(स्टैन्फ़ोर्ड एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ फ़िलॉसोफ़ी)

उपनिवेशवाद

मार्गरिट कोह्न

उपनिवेशवाद प्रभुत्व स्थापित करने की एक परिपाटी है जिसके तहत लोगों का एक समूह दूसरे समूह को अपने अधीन करता है। उपनिवेशवाद को परिभाषित करने की तमाम कठिनाइयों में से एक यह है कि इसे साम्राज्यवाद से अलग करके देख पाना मुश्किल है। अक्सर इन दो अवधारणाओं को समानार्थी की तरह देखा जाता है। उपनिवेशवाद की ही तरह, साम्राज्यवाद में भी एक निर्भर इलाके पर राजनीतिक व आर्थिक नियंत्रण करना शामिल होता है। लेकिन इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति इनके अन्तर के बारे में कुछ संकेत देती है। अंग्रेज़ी का शब्द 'कॉलोनी' (उपनिवेश) लैटिन के शब्द *कोलोनस* से बना है जिसका अर्थ होता है किसान। इससे पता चलता है कि औपनिवेशिक परिपाटी में आमतौर पर जन समूह को एक नए इलाके में स्थानान्तरित किया जाता था, जहाँ वे स्थायी निवासियों के रूप में बस जाते थे और साथ ही अपने मूल देश के प्रति राजनीतिक निष्ठा भी बनाए रखते थे। दूसरी तरफ़ अंग्रेज़ी का शब्द 'इंपीरियलिज़्म' (साम्राज्यवाद) लैटिन के शब्द *इंपीरियम* से बना है जिसका अर्थ होता है आदेश देना। इस तरह, साम्राज्यवाद शब्द इस बात की तरफ़ हमारा ध्यान खींचता है कि किस तरह एक देश दूसरे देश पर अपना आधिपत्य स्थापित करता है, चाहे वह वहाँ बसने के ज़रिए हो, सम्प्रभुता स्थापित करके हो, या नियंत्रण के किसी अप्रत्यक्ष तरीके से हो।

पश्चिमी परम्परा में उपनिवेशवाद की वैधता राजनीति व नीतिशास्त्र के दार्शनिकों के लिए लम्बे समय से सरोकार का विषय रहा है। कम से कम धर्मयुद्धों (crusades) और अमरीकी महाद्वीप पर [यूरोप की] फ़तह के दौर से ही राजनीतिशास्त्री इस समस्या से जूझते रहें हैं कि ग़ैर-यूरोपीय राष्ट्रों के ऊपर यूरोपीय सम्प्रभुता की परिपाटी और न्याय व प्राकृतिक विधि (natural law) से जुड़े विचारों के बीच तालमेल किस तरह बिठाया जाए। उन्नीसवीं सदी में, जब शेष विश्व पर यूरोप का प्रभुत्व अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा, उस समय उदारवादी विचारों और औपनिवेशिक परिपाटियों के बीच का तनाव ख़ासतौर से तीव्र हो गया था। विडम्बना यह है कि उस दौर में जब ज़्यादातर राजनीतिक दार्शनिकों ने सार्वभौमिकता और समानता के सिद्धान्तों की वकालत करना शुरू किया, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की वैधता की वकालत वही दार्शनिक कर रहे थे जो सार्वभौमिकता और समानता की बात कर रहे थे। इन विरोधाभासी दिखने वाले सिद्धान्तों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का एक तरीका वह तर्क था जिसे 'सभ्य बनाने का मिशन' (civilizing mission) कहा जाता है। यह ये इंगित करता है कि 'असभ्य' समाजों के लिए राजनीतिक निर्भरता या संरक्षण का एक अस्थायी दौर तब तक ज़रूरी था जब तक वे इतने विकसित न हो जाएँ कि उदारवादी संस्थाओं और स्व-शासन को बनाए रखने के क़ाबिल बन सकें।

इस लेख का उद्देश्य पश्चिमी राजनीतिक सिद्धान्त और उपनिवेशवाद की परियोजना के बीच के सम्बन्ध का विश्लेषण करना है। उपनिवेशवाद की अवधारणा पर और ज़्यादा गहराई से चर्चा करने के बाद इस लेख के तीसरे और चौथे भाग में इस सवाल की पड़ताल की जाएगी कि यूरोपीय विचारकों ने किस तरह राजनीतिक प्रभुत्व को उचित ठहराया, उसे वैधता प्रदान की और उसे चुनौती दी। पाँचवे भाग में मार्क्सवादी परम्परा की संक्षिप्त चर्चा की गई है। इसमें भारत में बर्तानी उपनिवेशवाद के पक्ष में मार्क्स के ख़ुद के तर्कों और लेनिन के साम्राज्यवाद-विरोधी लेखों को भी शामिल किया गया है। आख़िरी भाग में समकालीन 'उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्त' का परिचय कराया गया है। यह दृष्टिकोण साहित्यिक अध्ययनों में ख़ासतौर से प्रभावशाली रहा है क्योंकि ये उन विविध तरीकों की तरफ़ ध्यान आकर्षित कराता है जिनसे उत्तर-औपनिवेशिक चेतनाओं का निर्माण और तार्किक परिपाटियों से उनका प्रतिरोध किया जाता है। इस लेख का उद्देश्य यूरोपीय उपनिवेशीकरण के अनुभव से उपजे सैद्धान्तिक मसलों की पड़ताल करने वाले व्यापक और जटिल साहित्य का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना है।

1. परिभाषा और रूपरेखा

उपनिवेशवाद कोई आधुनिक परिघटना नहीं है। विश्व इतिहास में ऐसे ढेरों उदाहरण हैं जब कोई समाज आसपास के इलाके का अधिग्रहण करके धीरे-धीरे अपना विस्तार करता है और अपने लोगों को फ़तह किए गए नए इलाकों में बसा देता है। प्राचीन ग्रीक वासियों ने उपनिवेश स्थापित किए थे। उसी तरह रोम के लोगों ने, उत्तरी अफ़्रीकी मुसलमानों (मूर) ने, और ओटोमॉन वासियों ने भी ऐसा ही किया। ये तो महज़ कुछ सबसे जाने माने उदाहरण ही हैं। तो इस तरह, उपनिवेशवाद महज़ किसी विशिष्ट काल या जगह तक सीमित नहीं है। इसके बावजूद, सोलहवीं शताब्दी में समुद्री यात्रा में हुए तकनीकी विकास के कारण, दुनिया के दूरदराज के इलाके आपस में जुड़ गए, जिससे उपनिवेशवाद में

निश्चितबदलाव आए। तेज़ी से चलने वाले जहाज़ों से दूरदराज के बन्दरगाहों तक पहुँचना और केन्द्र व उपनिवेशों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए रखना सम्भव हुआ। इस तरह, आधुनिक यूरोपीय औपनिवेशिक परियोजना तब उभरी जब बड़ी संख्या में लोगों को समन्दर पार ले जाना और भौगोलिक दूरियों के बावजूद राजनीतिक सम्प्रभुता बनाए रखना सम्भव हुआ। इस लेख में उपनिवेशवाद शब्द का प्रयोग अमरीका, ऑस्ट्रेलिया, और अफ्रीका व एशिया के कुछ हिस्सों समेत समूची दुनिया में यूरोपीय लोगों की बसाहट और नियंत्रण की प्रक्रिया का वर्णन करने के लिए किया गया है।

उपनिवेशवाद को परिभाषित करने में आने वाली कठिनाई का कारण यह है कि इस शब्द को अक्सर साम्राज्यवाद के समानार्थी के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है। उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद दोनों ही नए-नए इलाकों पर फ़तह हासिल करने के अलग-अलग स्वरूप थे जिनसे यूरोप को आर्थिक और कूटनीतिक दृष्टि से फ़ायदा मिलने की अपेक्षा थी। उपनिवेशवाद शब्द का इस्तेमाल अक्सर उत्तरी अमरीका, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, अल्जीरिया, और ब्राज़ील की बसाहटों के लिए किया जाता है। ये वे जगहें थीं जिन पर यूरोप में स्थायी तौर पर बसे निवासियों की एक बड़ी जनसंख्या का नियंत्रण था। साम्राज्यवाद शब्द अक्सर ऐसे मामलों के लिए इस्तेमाल किया जाता है जब कोई विदेशी सरकार किसी इलाके में बसे बिना ही उसका प्रशासन चलाती है; इसके आम उदाहरणों में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में अफ्रीका के लिए होने वाली होड़ और फ़िलीपींस व पोर्टो रिको पर अमरीकी प्रभुत्व शामिल हैं। लेकिन इससे सम्बन्धित साहित्य में इन दोनों के बीच का फ़र्क हमेशा बरकरार नहीं रहता। कुछ विद्वान बसाहट के लिए बनाए गए उपनिवेश और आर्थिक शोषण के लिए बनाए गए उपनिवेश में फ़र्क करते हैं। कुछ अन्य विद्वान उपनिवेशवाद शब्द का इस्तेमाल उन अधीन इलाकों के लिए करते हैं जिन पर किसी विदेशी राष्ट्र का प्रत्यक्ष शासन होता है और वे इसको साम्राज्यवाद से अलग बताते हैं जिसमें प्रभुत्व के अप्रत्यक्ष तरीकों का इस्तेमाल किया जाता है।

साम्राज्यवाद शब्द के अर्थ को लेकर दुविधा दिखाती है कि इस अवधारणा में समय के साथ किस तरह के परिवर्तन आए हैं। हालांकि अंग्रेज़ी के 'इंपीरियलिज़्म' शब्द का इस्तेमाल उन्नीसवीं सदी से पहले इतना आम नहीं हुआ था, लेकिन महारानी एलीज़ाबेथ के काल में लोगों ने यूनाइटेड किंगडम को 'बरतानिया साम्राज्य' कहना शुरू कर दिया था। जैसे-जैसे ब्रिटेन ने बाहर के इलाकों को अपने अधीन करना शुरू किया, साम्राज्य की अवधारणा का इस्तेमाल भी ज़्यादा होने लगा। साम्राज्यवाद से आशय था दूसरे इलाकों पर सामरिक प्रभुत्व और सम्प्रभुता की व्यवस्था। इसमें यह मुमकिन था कि सरकार के रोज़मर्रा के कामकाज को अप्रत्यक्ष तौर पर स्थानीय विधानसभाओं या भेंट चढ़ाने वाले देसी शासकों के ज़रिए चलाया जाता हो, मगर उसकी सम्प्रभुता ब्रिटेन के हाथ में रहती थी। साम्राज्य की इस पारम्परिक समझ में बदलाव के पीछे साम्राज्यवाद का लेनिनवादी विश्लेषण था जो इसे आर्थिक शोषण के लिए काम करने वाली व्यवस्था के रूप में देखता था। लेनिन के अनुसार, साम्राज्यवाद परिपक्व पूँजीवाद के दौर में संचय (पूँजी का) के तर्क का अपरिहार्य नतीजा था। इस तरह, लेनिन और उसके बाद के मार्क्सवादियों के लिए साम्राज्यवाद पूँजीवाद का एक ऐतिहासिक चरण था न कि राजनीतिक व सामरिक प्रभुत्व की कोई परिपाटी जो इतिहास से परे हो। मार्क्सवादी

दृष्टिकोण का स्थायी प्रभाव अमरीकी साम्राज्यवाद के बारे में होने वाली समकालीन बहसों में दिखाई देता है जिनमें आमतौर पर अमरीकी साम्राज्यवाद का आशय अमरीका का आर्थिक वर्चस्व होता है, चाहे उसमें सत्ता प्रत्यक्ष तौर पर इस्तेमाल की जाए या फिर अप्रत्यक्ष तौर पर (यंग 2001)।

इन दोनों शब्दों के बीच कोई अन्तर कर पाने की सतत कठिनाई के मद्देनज़र, इस लेख में उपनिवेशवाद को एक व्यापक अवधारणा के रूप में देखा जाएगा जिसका आशय है सोलहवीं सदी से लेकर बीसवीं सदी तक चलने वाली यूरोपीय राजनीतिक प्रभुत्व की परियोजना जो 1960 के दशक के राष्ट्रीय मुक्ति के आन्दोलनों के साथ ख़त्म हुई। उत्तर-उपनिवेशवाद का इस्तेमाल उन समाजों के राजनीतिक व सैद्धान्तिक संघर्षों के लिए किया जाएगा जो राजनीतिक अधीनता से सम्प्रभुता की ओर परिवर्तन के अनुभव से गुज़रे। इस लेख में साम्राज्यवाद का इस्तेमाल एक व्यापक शब्द की तरह किया जाएगा जिसका आशय ऐसे आर्थिक, सामरिक, राजनीतिक प्रभुत्व से है जो बिना किसी विशिष्ट यूरोपीय बसाहट के प्राप्त किया गया हो।

2. खोज का युग और प्राकृतिक कानून

अमरीकी महाद्वीप पर स्पेन की फ़तह से विदेशी ज़मीन पर नियंत्रण हासिल करने के लिए सामरिक ताकत के इस्तेमाल को लेकर एक धर्मशास्त्रीय, राजनीतिक और नैतिक बहस छिड़ गई। यह बहस एक धार्मिक विमर्श के दायरे में चली जो सामरिक विजय को इस आधार पर वैध ठहराता था कि इससे देशी लोगों के धर्मांतरण व मुक्ति का रास्ता खुलता है। ऐसा नहीं है कि 'सभ्य बनाने का मिशन' के विचार की खोज बरतानी लोगों ने उन्नीसवीं सदी में की थी। स्पेनिश विजेताओं (*conquistadores*) और उपनिवेशवादियों ने अमरीकी महाद्वीप में अपनी गतिविधियों को खुले तौर पर वहाँ के मूलनिवासियों के बीच ईसाई धर्म के प्रसार के नाम पर सही ठहराया था। धर्मयुद्धों ने काफ़िरों की ज़मीन पर फ़तह हासिल कर उसे कब्ज़ें में लेने को तर्कसंगत ठहराने वाले कानूनी नज़रिए के विकास को शुरुआती प्रोत्साहन दिया। लेकिन जहाँ धर्मयुद्धों को शुरुआती दौर में रक्षात्मक युद्ध की तरह पेश किया गया था जिनका मकसद ग़ैर-ईसाइयों द्वारा कब्ज़ें में ली गई ईसाई ज़मीनों पर वापस अपना कब्ज़ा जमाना था, उसके बाद किए गए सैद्धान्तिक नवाचारों ने अमरीकी महाद्वीप की फ़तह को न्यायोचित ठहराने के बाद के प्रयासों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसमें मुख्य दावा यह था कि ईसा मसीह के अनुयायियों की आत्माओं की रक्षा के 'पीट्रिन आदेश' के लिए ज़रूरी था कि लौकिक और आध्यात्मिक दोनों मामलों में पोप का नियंत्रण हो, और यह नियंत्रण ईसाई धर्म को मानने वालों पर ही नहीं बल्कि उसे नहीं मानने वालों पर भी लागू हो।

लेकिन मूलनिवासियों के धर्मांतरण की दलील दूसरे देशों के फ़तह की परियोजना के लिए ऐसा आधार नहीं देती थी जो सभी समस्याओं से मुक्त हो। अमरीकी महाद्वीप पर स्पेन की फ़तह एक ऐसे दौर में हो रही थी जब ख़ुद चर्च के भीतर के मानवतावादी विद्वानों के ऊपर सन्त थॉमस एक्वीनास जैसे धर्मशास्त्रियों के प्राकृतिक कानून के सिद्धान्तों का

प्रभाव बढ़ रहा था। पोप इन्नोसेंट चतुर्थ के अनुसार, काफ़िरों के खिलाफ़ युद्ध महज़ इसलिए नहीं छेड़ा जा सकता था कि वे ईसाई धर्म में विश्वास नहीं रखते और न ही उन्हें उनकी सम्पत्ति से महरूम किया जा सकता था। थॉमसवाद के प्रभाव में इन्नोसेंट चतुर्थ इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बल का प्रयोग तभी वैध है जब काफ़िर प्राकृतिक कानून का उल्लंघन करें। ईसाई धर्म नहीं मानने वालों का अपने आप पर और अपनी सम्पत्ति पर वैध इख़्तियार था। लेकिन अगर वे ख़ुद पर उन सिद्धान्तों के अनुसार शासन करने में अक्षम हों जिनको हर तर्कशील व्यक्ति स्वीकार करेगा तो उस सूरत में यह इख़्तियार रद्द हो जाता था। स्पेनियों ने जल्द ही यह निष्कर्ष निकाल लिया कि अमरीकी मूल निवासियों का रहन-सहन, चाहे वह उनकी नग्नता हो या मेहनत करने की अनिच्छा हो या उनका कथित तौर पर नरभक्षी होना हो, यह साफ़ दिखाता था कि वे प्राकृतिक कानून मानने में सर्वथा अक्षम थे। मूल निवासियों के रीति-रिवाजों के इस आख्यान का इस्तेमाल भारतीयों के गुलाम बनाए जाने को वैध ठहराने के लिए किया गया जो स्पेनी उपनिवेशवादियों के अनुसार उनको सभ्यता की सीख देने का और ईसाई धर्म से उनका परिचय कराने का एकमात्र तरीका था।

लेकिन इस नई दुनिया (*New World*) में भेजे गए कुछ स्पेनी मिशनरियों ने यह पाया कि ग़ुलामों के श्रम का अमानवीय शोषण तो बड़े व्यापक पैमाने पर हो रहा था लेकिन धार्मिक शिक्षण के प्रति किसी गम्भीर प्रतिबद्धता का अभाव था। डोमिनिकन ऑर्डर के सदस्यों ने ख़ासतौर से उस पाखण्ड पर ध्यान दिया कि जहाँ एक तरफ़ भारतीयों के कथित तौर पर बर्बर होने के आधार पर उनको गुलाम बनाया जा रहा था दूसरी ओर फ़तह , युद्ध और ग़ुलामी के ऐसे तौर-तरीके अपनाए जा रहे थे जिससे महज़ दो दशक के स्पेन के राज में हिस्पैनिओला की जनसंख्या 250,000 से घटकर 15,000 पर पहुँच गई। इस स्पेनी 'सभ्यता' के नतीजतन जो नरसंहार हुआ उसे देखते हुए इन लोगों ने सभ्य बनाने के मिशन के विचार पर ही सवाल उठाने शुरू कर दिए। बार्तोलोमे दे लेस कसास (Bartolomé de Las Casas) और फ्रांसिस्कस दे विक्टोरिया (Franciscus de Victoria) स्पेन के औपनिवेशिक क्रिया-कलापों के दो सबसे प्रभावशाली आलोचक थे। विक्टोरिया ने भारतीय लोगों के अधिकारों पर कई व्याख्यान दिए जिनमें स्पेनी हुकूमत को थॉमसवाद की कसौटी पर कसा गया था। उसका तर्क था कि सभी इंसानों में तर्क की क्षमता होती है और सभी के पास प्राकृतिक अधिकार भी होते हैं जो इसी क्षमता से पैदा होते हैं। इस आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि स्पेन को अमरीकी महाद्वीप का मालिकाना देने का पोप का फैसला अवैध था। पोप इन्नोसेंट चतुर्थ की राय से अलग, विक्टोरिया का कहना था कि चाहे वह व्यभिचार हो या परस्त्रीगमन (adultery), प्राकृतिक कानून के उल्लंघन के लिए भारतीय लोगों को न तो पोप और न ही स्पेनी लोग दण्डित कर सकते थे। उन्होंने यह भी कहा कि महज़ इस आधार पर कि वे लोग 'व्यभिचारी या चोर हैं', पोप को ईसाइयों के ख़िलाफ़ युद्ध करने और उनकी सम्पत्ति को ज़ब्त करने का अधिकार नहीं मिल जाता। अगर ऐसा होने लगे तो फ़िर किसी भी यूरोपीय राजा की हुकूमत सुरक्षित नहीं बचेगी। इसके अलावा, विक्टोरिया के अनुसार, पोप और उनकी तरफ़ से काम कर रहे ईसाई राजाओं को काफ़िरों पर कानून थोपने का तो बिल्कुल ही अधिकार नहीं था क्योंकि काफ़िर ईसाई समुदाय का हिस्सा ही नहीं थे जो पोप का अधिकार क्षेत्र था (विलियम्स 1990)।

अमरीका पर स्पेन की जीत को सही ठहराने वाले प्रभावशाली तर्कों की कड़े शब्दों में आलोचना के बावजूद, विक्टोरिया का यह मत था कि 'नई दुनिया' में बल का इस्तेमाल उस सूरत में वैध है जब भारतीय समुदाय 'राष्ट्रों के कानून' का उल्लंघन करें। ये वे सिद्धान्त थे जिनका आधार तर्क था और इसलिए वे सार्वभौमिक थे। पहली नज़र में देखने पर यह बात बहुत विरोधाभासी लगती है कि भारतीयों द्वारा प्राकृतिक कानून का कथित उल्लंघन उनके ऊपर हमला करने का वैध आधार नहीं है लेकिन राष्ट्रों का कानून, जो ख़ुद प्राकृतिक कानून पर आधारित था, उसका उल्लंघन हमले का वैध आधार है। विक्टोरिया ने इस बात पर ज़ोर डाला कि राष्ट्रों का कानून बाध्यकारी इसलिए है क्योंकि 'समूची दुनिया के ज़्यादातर हिस्से में इसको लेकर पर्याप्त आम सहमति मौजूद है' (391) और इसलिए भी क्योंकि इन सिद्धान्तों से 'सभी के आम हितों' का फ़ायदा होता है। ऐसा लगता है कि यह अन्तर इस मान्यता पर आधारित है कि प्राकृतिक कानून से सम्बन्धित दूसरे सिद्धान्त (जैसे कि व्यभिचार या मूर्तिपूजा पर निषेध केसिद्धान्त) केवल उन लोगों को प्रभावित करते हैं जो उन क्रियाकलापों के लिए अपनी सहमति देते हैं, लेकिन इसके विपरीत राष्ट्रों के कानून (जैसे कि शान्तिपूर्वक यात्रा और व्यापार पर निषेध सम्बन्धी सिद्धान्त) का उल्लंघन उन पर भी प्रभाव डालता है जो इसकी सहमति नहीं देते हैं। अन्ततः, राष्ट्रों के कानून की विक्टोरिया की जो समझ थी उसने उनको स्पेनी उपनिवेशवाद के क्रियाकलापों का समर्थन करने की दिशा में मोड़ दिया, इस तथ्य के बावजूद कि उन्होंने ज़ोर देकर यह कहा कि युद्ध सिर्फ़ शान्तिपूर्ण व्यापार और मिशनरी गतिविधियों के वैध उद्देश्यों से जुड़ी गतिविधियों की सुरक्षा के लिए होना चाहिए। स्पेनी उपनिवेशवाद की वैधानिकता और नैतिकता की विक्टोरिया की आलोचना में स्पेन की फ़तह को वैध ठहराना निहित था भले ही वह एक सीमित अर्थ में ही क्यों न हो।

3. उदारवाद और साम्राज्य

अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में फ्रेंच, जर्मन और बरतानिया दार्शनिकों के बीच भी उपनिवेशवाद की वैधता बहस का मुद्दा थी। कांट, स्मिथ और डिडरोट जैसे प्रबोधनकालीन विचारक उपनिवेशवाद की बर्बरता के प्रति आलोचनात्मक नज़रिया रखते थे और उन्होंने इस विचार को भी चुनौती दी कि यूरोपीय लोगों के ऊपर बाकी दुनिया के लोगों को 'सभ्य' बनाने की ज़िम्मेदारी थी। पहली नज़र में देखें तो लगेगा कि कमोबेश यह ज़ाहिर ही है कि प्रबोधनकालीन दार्शनिक उपनिवेशवाद की आलोचना विकसित करेंगे। औपनिवेशिक प्रभुत्व की व्यवस्था जिसमें दासता, अर्ध-सामन्ती बन्धुआ मजदूरी, या सम्पत्ति ज़ब्त करने जैसी गतिविधियाँ शामिलथीं, वह प्रबोधन के इस बुनियादी सिद्धान्त के खिलाफ़ है कि हर व्यक्ति तर्क और स्व-शासन की योग्यता रखता है। लेकिन उपनिवेशवाद-विरोधी राजनीतिक सिद्धान्त के विकास के लिए सभी लोगों की साझी मनुष्यता को स्वीकार करने वाली सार्वभौमिक नैतिकता से ज़्यादा कुछ की दरकार थी। जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है, उपनिवेशवाद की आलोचना के लिए थॉमसवाद की सार्वभौमिकता कमोबेश कमज़ोर आधार साबित हुई। प्राकृतिक कानून की अमूर्त सार्वभौमिकता और मूल निवासियों

के वास्तविक सांस्कृतिक व्यवहारों के बीच जिस तरह का तनाव था, उससे मूल निवासियों की भिन्नता को बड़ी आसानी से प्राकृतिक कानून के उल्लंघन की तरह देखा जा सकता था। और इसी के आधार पर शोषण को सही ठहराया गया।

डिडरोट यूरोपीय उपनिवेशवाद के सबसे प्रखर आलोचकों में से एक था। रायानल (Raynal) की *हिस्टरी डेस ड्यूक्स इंडेस* में अपने आलेखों में डिडरोट ने इस नज़रिए को चुनौती दी कि मूल निवासियों को यूरोपीय सभ्यता से कोई फ़ायदा मिलता है। उसने यह भी कहा कि अगर कोई वाकई असभ्य है तो वह ख़ुद यूरोपीय उपनिवेशवादी ही हैं। उसने दावा किया कि संस्कृति ('राष्ट्रीय चरित्र') नैतिकता को आत्मसात करने में मदद करती है और दूसरों का सम्मान करने के नियमों को भी सुदृढ़ करती है। लेकिन जब व्यक्ति अपने मूल देश से दूर होता है तो यह नियम कमज़ोर पड़ जाते हैं। डिडरोट के अनुसार, औपनिवेशिक साम्राज्यों में अक्सर अत्यधिक क्रूरता देखने को मिलती है क्योंकि उपनिवेशवादी अपने देश की कानूनी संस्थाओं और अनौपचारिक प्रतिबन्धों से बहुत दूर होते हैं और इससे ख़ुद पर काबू रखने की आदत शिथिल हो जाती है जिसके चलते हिंसा की इंसान की प्राकृतिक प्रवृति हावी हो जाती है (मुत्थु 2003)।

डिडरोट यूरोपीय उपनिवेशवाद को सही ठहराने वाले प्रमुख तर्कों को भी चुनौती देता है। हालांकि वह इसकी छूट देता है कि जिन इलाकों में कोई इंसानी रिहाइश नहीं हैं उनका उपनिवेशीकरण किया जा सकता है, लेकिन यह बात वह ज़ोर देकर कहता है कि जिन इलाकों में भरीपूरी इंसानी रिहाइश है उनमें दख़ल देने का कोई अधिकार विदेशी व्यापारियों व खोजियों को नहीं है। यह महत्त्वपूर्ण तर्क है क्योंकि सोलहवीं और सत्रहवीं सदी में स्पेनी चिन्तक व्यापार के अधिकार (जिसमें व्यापार के अलावा मिशनरी कार्य और खोजबीन शामिल माना जाता था) के आधार पर ही उपनिवेशीकरण को सही ठहराते थे। इसी नज़रिए का नमूना विक्टोरिया का यह निष्कर्ष है कि अगर मूल निवासी शान्तिपूर्ण व्यापारियों और मिशनरियों को रोकते हैं तो यह राष्ट्रों के कानून का उल्लंघन होगा। अगर मूल निवासी इस तरह की घुसपैठ का प्रतिरोध करते हैं तो स्पेनी लोगों का उनसे युद्ध करना और उनके इलाके पर फ़तह करना पूरी तरह वैध होगा। डिडरोट ख़ासतौर पर इस नज़रिए को चुनौती देता है और यह कहता है कि यूरोपीय व्यापारियों ने ख़ुद को" बतौर मेहमान ख़तरनाक सिद्ध किया था। "(मुत्थु 2003:75)।

प्रबोधनकालीन विचारक उपनिवेशवाद की कोई दमदार आलोचना प्रस्तुत करें इसके लिए ज़रूरी था कि पहले वे संस्कृति के महत्त्व और सांस्कृतिक बहुलतावाद की सम्भावना को समझें। यह दावा कि सभी इंसान गरिमा और सम्मान के बराबर के हक़दार थे, साम्राज्यवाद-विरोधी विचारों के लिए ज़रूरी तो था मगर पर्याप्त नहीं। उनके लिए यह स्वीकार करना भी ज़रूरी था कि विविध संस्थाएँ, आख्यान, और कलात्मक व्यवहारों का विकास करने की प्रवृति इंसान की बुनियादी क्षमताओं का हिस्सा थी। फ्रेंच भाषा का शब्द *मोयूर्स* या जिसे आज संस्कृति कहा जाएगा इस विचार को

प्रकट करता है कि इंसानों की मानवीयता उन विशिष्ट क्रियाकलापों में अभिव्यक्त होती है जिनको वे अस्तित्व की चुनौतियों का सामना करने के लिए अपनाते हैं।

डिडरोट और कांट जैसे प्रबोधनकालीन साम्राज्यवादी-विरोधियों के लेखन में मानवाधिकार जैसी सार्वभौमिक अवधारणाओं और सांस्कृतिक बहुलतावाद की वास्तविकताओं के बीच के तनाव से उनके संघर्ष की झलक मिलती है। प्रबोधनकालीन साम्राज्यवादी-विरोध की विडम्बना यह है कि इसमें तर्क करने की इंसान की सार्वभौमिक क्षमता को ही इंसान की गरिमा का आधार माना गया है। लेकिन जब लोग ऐसे सांस्कृतिक क्रियाकलाप करते हैं जिनसे कोई यूरोपीय अवलोकनकर्ता अनभिज्ञ हो या जो उसके लिए तकलीफ़देह हो तो इनको ग़ैर-तार्किक और इस कारण से स्वीकार्यता और सम्मान के सर्वथा अयोग्य मान लिया जाता है। डिडरोट ने इसके लिए विशिष्टता को सार्वभौमिक मानवीय लक्षण मान लेने का समाधान सामने रखा। दूसरे शब्दों में उसने इस बात पर ज़ोर दिया कि सभी इंसान आचरण के ऐसे व्यावहारिक नियम बनाने की मिलती-जुलती इच्छाएँ रखते हैं जो कठोर अन्याय और क्रूरता पैदा किए बिना जीवन जीने के विशिष्ट तौर-तरीकों को फलने-फूलने का मौका देते हैं (मुथु 2003: 77)। मानव अस्तित्व की चुनौतियों के समाधानों की विविधता असीमित है। मानव समाजों को सिर्फ़ ऐसा तरीका इजाद करना है जिससे व्यक्तिगत अहं और मैत्री भाव के बीच एक सन्तुलन कायम हो व भौतिक वातावरण से पैदा हुई कठिनाइयों से पार पाया जा सके। इस नज़रिए से देखें तो तर्क नहीं बल्कि ख़ुद संस्कृति ही सार्वभौमिक मानवीय क्षमता है।

अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के कई दूसरे राजनीतिक चिन्तकों की तरह डिडरोट ने यह पूर्वधारणा नहीं बनाई कि ग़ैर-पश्चिमी समाज अनिवार्यतः असभ्य (मसलन, जिनमें राजनीतिक व सामाजिक संगठन नहीं होता) ही थे । न ही उसने यह पूर्वधारणा बनाई कि ज़्यादा जटिल सामाजिक ढाँचे अनिवार्यतः श्रेष्ठ ही थे। उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के तरफ़दारों और आलोचकों को अलग करने वाले मुख्य मसलों में से एक था संस्कृति, इतिहास और प्रगति के बीच के सम्बन्ध के बारे में उनका नज़रिया। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में फ्रांस और इंग्लैंड में सक्रिय कई प्रभावशाली दार्शनिकों ने स्कॉटिश प्रबोधन से जुड़े इतिहास के विकासात्मक नज़रिए के ही किसी न किसी वर्णन को आत्मसात किया था। चरणबद्ध ऐतिहासिक विकास के सिद्धान्त के अनुसार, सभी समाज प्राकृतिक रूप से शिकार, फ़िर पशु पालन, फ़िर खेती, और फ़िर व्यापार के चरणों से गुज़रते हैं। यह विकास की ऐसी प्रक्रिया है जो संस्कृति को भी इसी क्रम के अनुरूप 'जंगली', फ़िर 'बर्बरता' और फ़िर 'सभ्यता' की अवस्थाओं में बढ़ते हुए रेखांकित करती है। 'सभ्यता' सिर्फ़ भौतिक उन्नति का लक्षण नहीं, बल्कि किसी समाज की नैतिक प्रगति के बारे में एक मूल्यगत निर्णय भी था (कोह्न व ओ'नील 2006)।

सभ्यता, असभ्यता और बर्बरता की भाषा एडमण्ड बर्क, कार्ल मार्क्स, और जॉन स्टुअर्ट मिल जैसे बिल्कुल अलग-अलग धाराओं के लेखकों के लेखन में व्याप्त है। इसलिए यह नतीजा निकालना सही नहीं होगा कि इतिहास का विकासात्मक

सिद्धान्त सिर्फ़ उदारवादी धारा की ख़ासियत रही है। इसके बावजूद, चूंकि फर्ग्युसन व एडम स्मिथ जैसे स्कॉटिश प्रबोधन के कुछ व्यक्तित्व इस सिद्धान्त के प्रमुख पैरोकार थे इसलिए इसे उदारवाद के इतना निकट समझा जाता है। ख़ुद स्मिथ ने आर्थिक कारणों से साम्राज्यवाद का विरोध किया। उसका यह मानना था कि केन्द्र और उपनगर के बीच निर्भरता का सम्बन्ध बाज़ार की ख़ुद को नियमित करने वाली प्रक्रियाओं को विकृत करता था। साथ ही, उसे यह भी चिन्ता थी कि सामरिक प्रभुत्व की कीमत करदाताओं के लिए भारी पड़ेगी (पिट्स 2005)। लेकिन सभ्यता को ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया के चरमोत्कर्ष के रूप में देखने का विचार साम्राज्यवाद को न्यायोचित ठहराने में मददगार साबित हुआ। उदय मेहता के अनुसार, सार्वभौमिकतावाद और विकासात्मक इतिहास के बीच की परस्पर क्रिया से उदारवादी साम्राज्यवाद पैदा हुआ था (1999)। उदारवाद की बुनियादी मान्यताओं में से एक यह है कि सभी व्यक्तियों में तर्क और स्व-शासन की क्षमता होती है। लेकिन विकासात्मक इतिहास का सिद्धान्त इस सार्वभौमिकतावाद में थोड़ा बदलाव लाते हुए कहता है कि ये क्षमताएँ सभ्यता के एक ख़ास स्तर पर ही उभरती हैं । मिसाल के लिए, जॉन स्टुअर्ट मिल (आगे से मिल) के अनुसार, जंगली लोगों में स्व-शासन की क्षमता नहीं होती है क्योंकि उन्हें स्वतंत्रता से अतिशय प्रेम होता है। दूसरी तरफ, बर्बर समाजों में अर्ध दास, गुलाम और किसानों को आज्ञापालन का ऐसा पाठ पढ़ाया जाता है कि उनमें तर्क की क्षमता खत्म ही हो जाती है। केवल व्यापारिक समाज ही उन भौतिक व सांस्कृतिक स्थितियों को पैदा करता है जो व्यक्तियों को उनकी स्वतंत्रता और स्व-शासन की क्षमता को हासिल करने में सक्षम बनाती हैं। इस तर्क के अनुसार, ब्रिटेन जैसे सभ्य समाज कम विकसित लोगों पर हुकूमत करके उन लोगों का ही भला कर रहे हैं। इस नज़रिए से देखा जाए तो साम्राज्यवाद मुख्यतः राजनीतिक प्रभुत्व और आर्थिक शोषण नहीं है बल्कि सरकार चलाने की एक किस्म की पितातुल्य परिपाटी है जो 'सभ्यता' (मसलन, आधुनिकीकरण) का निर्यात करती है जिससे मूल निवासियों में सुधार आ सके। निरंकुश सरकार (और मिल इस शब्द का इस्तेमाल करने में नहीं हिचकता है) असल में सुधार और अन्ततः स्व-शासन के लक्ष्य को हासिल करने का ही एक ज़रिया है।

मिल ने, जो ताउम्र ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी का मुलाज़िम रहा, यह माना कि विदेशी लोगों की तानाशाही सरकार अन्याय और आर्थिक शोषण कर सकती है। अगर सत्ता के इस तरह के दुरुपयोग रोके नहीं गए तो इससे साम्राज्यवादी परियोजना की वैधता और प्रभावोत्पादकता पर बुरा असर पड़ सकता था। अपनी किताब *कंसिडरेशंस ऑन रिप्रेज़ेंटेटिव गवर्नमेंट* (1861) में मिल ने ऐसे चार कारणों की पहचान की है जिनके चलते विदेशी (मसलन, यूरोपीय लोग) उपनिवेशों पर शासन करने में सक्षम नहीं थे। पहला, इस बात की कम ही सम्भावना थी कि विदेशी राजनीतिज्ञों को उन स्थानीय स्थितियों की जानकारी हो जो सार्वजनिक नीतियों से जुड़ी समस्याओं के प्रभावशाली समाधान के लिए ज़रूरी थीं। दूसरा, उपनिवेश बनाने वालों और उपनिवेश के शिकार लोगों के बीच के सांस्कृतिक, भाषाई, और कई बार धार्मिक अन्तरों को देखते हुए इस बात की सम्भावना कम ही थी कि उपनिवेशवादी मूल निवासियों के साथ कोई सहानुभूति रखें बल्कि इस बात की सम्भावना ज़्यादा थी कि उनका व्यवहार स्थानीय लोगों के प्रति तानाशाहीपूर्ण हो। तीसरा, अगर उपनिवेशवादी मूल निवासियों के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करना चाहें तो भी अपने जैसे लोगों (जैसे कि विदेशी

उपनिवेशवादियों या व्यापारियों) के प्रति सहानुभूति रखने की प्राकृतिक प्रवृति के चलते किसी टकराव की स्थिति में उनके द्वारा सही निर्णय लेने की सम्भावना कम ही होगी। मिल के अनुसार चौथी वजह यह थी कि उपनिवेशवादी और व्यापारी विदेश इसलिए जाते हैं ताकि वे कम मेहनत या जोखिम से पैसा बना सकें, इसका मतलब यह है कि उनकी अर्थिक गतिविधियों से अक्सर उपनिवेश बनने वाले देश का नुकसान ही होता है न कि उसका विकास। इन तर्कों में भारत में कुशासन की तीखी आलोचना में लिखे एडमण्ड बर्क के भारी-भरकम लेखन की अनुगूंज सुनाई देती है, ख़ासतौर से फ़ॉक्स के ईस्ट इंडिया बिल (1783) पर बर्क के प्रसिद्ध भाषण की।

मिल के लिए संसदीय निगरानी इसका कोई हल नहीं था। इससे फैसलों का राजनीतिकरण हो जाएगा, जिससे साम्राज्य की नीति राजनीतिक दलों की गुटबाजियों से तय होने लगेगी न कि तकनीकी विशेषज्ञता से। इसके अलावा, चूंकि हाउस ऑफ़ कॉमंस के सदस्यों की जवाबदेही उनके क्षेत्र के वोटरों के प्रति थी, इससे यह सुनिश्चित हो जाएगा कि साम्राज्य की नीति पूरी तरह ब्रिटिश हितों को ही आगे बढ़ाने की हो जाएगी न कि उपनिवेशों में सुशासन और आर्थिक विकास करने की। साम्राज्यवादी कुशासन का मिल का समाधान यह था कि संसदीय निगरानी की बजाय एक विशेष प्रशासनिक समूह बनाया जाए। इस विशेष संस्था के सदस्यों के पास स्थानीय परिस्थितियों की प्रासंगिक जानकारी हासिल करने का प्रशिक्षण होगा। चूंकि सरकार इनको वेतन देगी, इसलिए आर्थिक शोषण से इनको कोई निजी लाभ नहीं मिलेगा और इसके चलते उपनिवेशवादियों और स्थानीय लोगों के बीच के टकरावों में ये न्यायपूर्ण निर्णय ले सकेंगे। लेकिन मिल इसकी कोई व्याख्या नहीं कर पाया कि ऐसी स्थिति में जहाँ वे लोग जिनके हाथ में राजनीतिक सत्ता हो अगर अवाम के प्रति जवाबदेह न हों तो सुशासन कैसे सुनिश्चित किया जाएगा। इस तरह से देखें तो मिल के विचार उदारवादी साम्राज्यवादी विचारों की विफलता के प्रतीक चिह्न हैं।

विदेशी प्रभुत्व और कब्ज़े की वैधता के बारे में उन्नीसवीं सदी के उदारवादी विचारकों के विचारों में ख़ासी विविधता है। मिसाल के लिए, एलेक्स दी टॉक्वील ने एक ऐसे उपनिवेशवाद की वकालत की जो 'सभ्य बनाने के मिशन' की किसी धारणा पर न टिका हुआ हो। टॉक्वील को पता था कि उपनिवेशवाद से सम्भवतः मूल निवासियों के लिए सुशासन नहीं आता था, लेकिन इससे वो उपनिवेशवाद के विरोध की तरफ़ नहीं प्रवृत हुआ क्योंकि उपनिवेशवाद के प्रति उसका समर्थन पूरी तरह उससे फ्रांस को मिलने वाले फ़ायदे पर टिका हुआ था। उसने इस बात पर ज़ोर दिया कि अल्जीरिया में फ्रेंच उपनिवेशों से इंग्लैंड जैसे प्रतिद्वंद्वियों के बरक्स फ्रांस का कद ऊँचा होगा। इन उपनिवेशों से फ्रांस में अराजकता फैलाने वाली अतिरिक्त जनसंख्या को बसाने के लिए एक जगह मिलेगी। टॉक्वील ने यह भी सुझाव दिया कि साम्राज्यवादी अभियानों से देशभक्ति की भावना जागेगी जो भौतिकवाद और वर्ग संघर्ष जैसी आधुनिक विभाजनकारी ताकतों के प्रभाव को सीमित करेगी।

टॉक्वील अल्जीरिया में फ़्रांस की औपनिवेशिक परियोजना को आगे बढ़ाने में सक्रिय रुप से जुड़ा हुआ था। फ़्रांसीसी उपनिवेशवाद का उसका पहला विश्लेषण 1837 में छपा था जब वह चेंबर ऑफ डेप्यूटीज़ में सीट पाने के चुनावी अभियान में जुटा हुआ था। चेंबर ऑफ डेप्यूटीज़ के सदस्य के तौर पर टॉक्वील ने अल्जीरिया में फ्रांस के दख़ल को बढ़ाने के पक्ष में दलीलें रखीं। सन 1841 में वह अल्जीरिया गया जहाँ उसने 'एस्से ऑन अल्जीरिया' (अल्जीरिया पर निबन्ध) लिखा जो इस विषय पर दो संसदीय रपटों का आधार बनी (टॉक्वील 2001)। 'सभ्य बनाने के मिशन' के दूसरे कहीं ज़्यादा सरल प्रतिपादकों की तुलना में टॉक्वील ने यह स्वीकार किया कि बर्बर सैनिक शासन ने सुशासन लाने में या सभ्यता को आगे बढ़ाने में कोई ख़ास योगदान नहीं दिया है। स्कॉटिश प्रबोधन के चार चरणों के सिद्धान्त को स्पष्ट तौर पर पलटते हुए उसने यह स्वीकार किया कि "इस समय हम ख़ुद अरबों की तुलना में कहीं ज्यादा बर्बर तरीके से लड़ रहे हैं" और "सभ्यता की झलक तो हमें उनकी तरफ़ देखने को मिलती है" (टॉक्वील 2001: 70)। लेकिन इस स्वीकारोक्ति का मतलब यह नहीं था कि फ्रांस की क्रूरता की आलोचना की गई है। इसकी बजाय टॉक्वील ने फ़सलों को तबाह करने, ज़मीन को ज़ब्त करने, और निहत्थे नागरिकों की धरपकड़ जैसे विवादित तौर-तरीकों को उचित ठहराया। लेकिन उसकी रचनाओं में इसके दार्शनिक औचित्य जैसी बात कम ही देखने को मिलती है और न्यायसंगत युद्ध की पूरी परम्परा को ख़ारिज करते हुए वह कहता है, "मेरा मानना है कि युद्ध का अधिकार हमको उस देश को नष्ट करने की इजाज़त देता है" (टॉक्वील 2001: 70)। अल्जीरिया पर टॉक्वील की रचनाओं में फ्रांस के राष्ट्रीय हितों को सबसे ऊपर रखा गया है और नैतिकता के क़ायदे साफ़ तौर पर राजनीतिक उद्देश्यों के अधीन हैं।

अल्जीरिया के टॉक्वील के विश्लेषण में औपनिवेशिक शासन की वैधता को लेकर चिन्ता कम ही दिखाई देती है और एक प्रभावशाली औपनिवेशिक शासन को बनाने की व्यवहारिक चिन्ताएँ ज़्यादा देखने को मिलती हैं। उसका मानना था कि शासन की स्थिरता इस बात पर निर्भर करती है कि फ्रांसीसी उपनिवेशकों को सुशासन प्रदान करने की औपनिवेशिक प्रशासन की क्षमता कितनी है। टॉक्वील ने इस बात पर ज़ोर दिया कि पेरिस के हाथ में निर्णय लेने का अत्यधिक केन्द्रीकरण और उसके साथ स्थानीय सैनिक नेतृत्व के मनमाने रवैए का मतलब यह होगा कि फ्रांसीसी उपनिवेश के पास सम्पत्ति की कोई सुरक्षा नहीं होगी, राजनीतिक व नागरिक अधिकारों की बात तो छोड़ ही दी जाए जिसके वे फ्रांस में आदी हैं। मूल निवासियों के खिलाफ़ सैनिक कानून के उपयोग से टॉक्वील को परेशानी नहीं थी लेकिन उसका मानना था कि इसे फ्रांसीसी लोगों पर लागू करने से कोई फ़ायदा नहीं होगा। टॉक्वील के अनुसार, अल्जीरिया में फ्रांसीसी उद्यम की सफलता पूरी तरह भारी संख्या में स्थाई फ्रांसीसी उपनिवेशकों को आकर्षित करने पर टिकी हुई थी। यह देखते हुए कि मूल निवासियों की वफ़ादारी हासिल करना असम्भव साबित होता जा रहा था, उपनिवेशकों के एक स्थिर समुदाय का निर्माण किए बिना फ्रांस अल्जीरिया पर नियंत्रण क़ायम नहीं रख सकता था। मूल निवासियों पर सैनिक प्रभुत्व के ज़रिए शासन बनाए रखना था और फ्रांसीसी लोगों को एक ऐसे माहौल के आर्थिक लाभ का लालच देकर रहने के लिए आकर्षित करना था जो यथासम्भव फ्रांस के सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन को यहाँ निर्मित कर सके। अपने 'सेकंड लेटर ऑन अल्जीरिया' (टॉक्वील 2001: 25) में नस्लों के 'एकीकरण' को लेकर

थोड़े समय की आशावादिता के बाद टॉक्वील औपनिवेशिक दुनिया को उपनिवेशक और मूल निवासियों के बीच एक स्थाई विरोध के नज़रिए से देखने लगा। एक ऐसा विरोध जो इस तरह बनाया गया था कि उपनिवेशकों के आर्थिक हित सुनिश्चित रहें।

4. मार्क्सवाद व लेनिनवाद

हाल के वर्षों में विद्वानों ने मार्क्सवादी परम्परा के भीतर उपनिवेशवाद को लेकर होने वाली बहसों की तरफ़ कम ही ध्यान दिया है। इससे अकादमिक जगत और राजनीतिक क्रिया-कलापों में मार्क्सवाद के घटते प्रभाव की झलक मिलती है। लेकिन मार्क्सवाद ने उत्तर औपनिवेशिक सिद्धान्त और दुनिया भर में उपनिवेशवाद विरोधी आज़ादी की लड़ाई को प्रभावित किया है। मार्क्सवादियों ने यूरोप के राजनीतिक विस्तार के भौतिक आधार की तरफ़ ध्यान आकर्षित किया है और ऐसी अवधारणाओं का विकास किया है जिनकी मदद से प्रत्यक्ष राजनीतिक शासन के ख़ात्मे के बाद भी जारी आर्थिक शोषण की व्याख्या की जा सकती है।

हालांकि मार्क्स ने कभी भी उपनिवेशवाद का सिद्धान्त नहीं विकसित किया लेकिन पूँजीवाद के उसके विश्लेषण में नए बाज़ारों की खोज में विस्तार करने की पूँजीवाद की अन्तरभूत प्रवृत्ति पर ज़ोर था। *कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो, ग्रंडरीज़,* और *कैपिटल* जैसी अपनी क्लासिक रचनाओं में मार्क्स ने यह भविष्यवाणी की कि पूँजीपति वर्ग एक वैश्विक बाज़ार के निर्माण का काम करता रहेगा और अपने विस्तार की राह में आने वाली स्थानीय और राष्ट्रीय दोनों तरह की बाधाओं को ध्वस्त करेगा। पूँजीवाद की सबसे केन्द्रीय प्रक्रिया अतिरिक्त उत्पादन का एक ज़रूरी नतीजा विस्तार है। उत्पादकों के बीच की होड़ उन्हें मजदूरी कम करने की तरफ़ ले जाती है जिससे निम्न उपभोग का संकट पैदा होता है। आर्थिक विध्वंस को रोकने का एकमात्र तरीका नए बाज़ारों की खोज है ताकि उपभोग के अतिरिक्त सामानों को खपाया जा सके। मार्क्सवादी नज़रिए से किसी न किसी प्रकार का साम्राज्यवाद अवश्यम्भावी है। संसाधनों के मामले में समृद्ध विदेशी भूमि पर जनसंख्या को भेजने से कोई राष्ट्र औद्योगिक सामानों का बाज़ार बनाता है और साथ ही प्राकृतिक संसाधनों का एक टिकाऊ स्रोत भी। बदले में कमज़ोर देशों के सामने यह विकल्प होता है कि वे अपनी मर्ज़ी से विदेशी उत्पादों को देश में आने दें, जो घरेलू उद्योगों को नुकसान पहुँचाएंगे या फ़िर राजनीतिक प्रभुत्व के सामने झुक जाएँ जिसका वही परिणाम होगा।

1850 के दशक में *द न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून (The New York Daily Tribune)* अखबार में छपे लेखों की श्रृंखला में मार्क्स ने ख़ासतौर पर भारत में बरतानिया उपनिवेशवाद के प्रभाव की चर्चा की। उसका विश्लेषण राजनीतिक और सामाजिक बदलाव के उसके सामान्य सिद्धान्त के अनुरूप था। उसने भारत को एक ऐसे समाज के रूप में दर्शाया जो मूलतः सामन्ती समाज था और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की पीड़ा से गुज़र रहा था। लेकिन मार्क्स के अनुसार भारतीय 'सामन्तवाद' विशिष्ट प्रकार का आर्थिक संगठन था। वह इस नतीजे पर इसलिए पहुँचा क्योंकि उसका मानना

था (जो कि ग़लत था) कि भारत में कृषि भूमि पर सामूहिक स्वामित्व था। मार्क्स ने एक ख़ास तरह के वर्गीय प्रभुत्व के लिए 'प्राच्य निरंकुशता'(Oriental Despotism) की अवधारणा का उपयोग किया, जिसमें कृषक समाज से संसाधनों को हथियाने के लिए, कर वसूलने की राज्य की ताकत का इस्तेमाल किया जाता था। मार्क्स के अनुसार भारत में प्राच्य निरंकुशता इसलिए उभरी क्योंकि कृषि उत्पादकता बड़े पैमाने के सार्वजनिक कामों जैसे सिंचाई पर निर्भर थी जिसमें सिर्फ़ राज्य ही पैसा लगा सकता था। इस कारण राज्य को आसानी से किसी दूसरी विकेन्द्रित व्यवस्था में नहीं बदला जा सकता था। पश्चिमी यूरोप में भूमि पर सामन्ती सम्पत्ति को धीरे-धीरे निजी सम्पत्ति में बदला गया जिसका लेन-देन किया जा सकता था। भारत में भूमि के सामुदायिक स्वामित्व के चलते यह सम्भव नहीं था जिसके कारण व्यावसायिक खेती और मुक्त बाज़ार का विकास रुक गया। चूंकि घरेलू आर्थिक प्राच्य निरंकुशता आधुनिकीकरण को रोकती थी इसलिए भारत में बरतानिया प्रभुत्व आर्थिक आधुनिकीकरण का माध्यम बना।

उपनिवेशवाद को एक पिछड़े सामन्ती समाज में प्रगति लाने वाली ताक़त के रूप में देखने का मार्क्स का विश्लेषण विदेशी प्रभुत्व को तर्कसंगत ठहराने जैसा लगता है। लेकिन बरतानिया प्रभुत्व के उसके विवरण में कुछ वैसी ही दुविधा देखने को मिलती है जो मार्क्स में यूरोप में पूँजीवाद की भूमिका के प्रति है। दोनों मामलों में, सामन्ती से बुर्जुआ समाज के संक्रमण के दौर में जो भयावह पीड़ा है उसको तो मार्क्स पहचानता है लेकिन साथ ही इस पर ज़ोर देता है कि यह संक्रमण ज़रूरी भी है और अन्ततः प्रगतिशील भी। उसका तर्क है कि विदेशी व्यापार के फैलने से भारत में एक सामाजिक क्रान्ति होगी। मार्क्स के नज़रिए में इस उथल-पुथल के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों परिणाम होंगे। जब किसान अपनी परम्परागत आजीविका से वंचित होते हैं तो बड़े भारी पैमाने पर मानवीय त्रासदी घटित होती है, लेकिन वह ये भी कहता है कि परम्परागत ग्रामीण समुदाय सुखद जीवन के केन्द्र हैं ऐसा नहीं है, बल्कि वे जातिगत दमन, गुलामी, बदहाली और क्रूरता के केन्द्र हैं। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का पहला चरण पूरी तरह नकारात्मक होता है क्योंकि ग़रीब लोग भारी कर चुकाते हैं जिससे बरतानिया शासन का खर्चा निकलता है और फिर ग़रीब लोग सस्ते अंग्रेजी कपड़ों की बाढ़ से पैदा हुई आर्थिक उथल-पुथल की मार झेलते हैं। लेकिन अन्ततः ब्रिटिश व्यापारियों को यह समझ में आने लगता है कि अगर हिन्दुस्तानी व्यापार के लिए कुशलता से सामानों का उत्पादन नहीं करेंगे तो वे आयातित कपड़ों या बरतानिया प्रशासन का खर्च वहन नहीं कर पाएंगे। यह उत्पादन और ढाँचागत सुविधाओं में ब्रिटिश निवेश के लिए एक प्रोत्साहन का काम करता है। हालांकि मार्क्स यह मानता था कि बरतानिया शासन असल में लालच से प्रेरित था और बड़ी क्रूरता से उसे लागू किया जा रहा था लेकिन वह यह भी महसूस करता था कि इसके बावजूद यह प्रगति का वाहक है। इस तरह भारत में बरतानिया शासन पर मार्क्स की चर्चा के तीन आयाम हैं: विदेशी शासन के प्रगतिशील चरित्र का विवरण, उसके चलते होने वाली मानवीय पीड़ा की आलोचना, और यह निष्कर्ष कि अगर इसमें निहित प्रगतिशीलता की सम्भावना को फलित होना है तो यह ज़रूरी है कि बरतानिया शासन अस्थाई हो।

लेनिन ने अपने पर्चे *इंपीरियलिज़्म: द हाईएस्ट स्टेज ऑफ कैपिटलिज़्म [Imperialism: The Highest Stage Of Capitalism]* (1917) में पश्चिमी आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व का विश्लेषण विकसित किया। लेनिन ने साम्राज्यवाद के प्रति कहीं ज़्यादा खुलकर आलोचनात्मक रुख़ अपनाया। लेनिन ने कहा कि साम्राज्यवाद एक ऐसा तरीका है जिसके ज़रिए यूरोपीय देश अपने आर्थिक बोझ को ग़रीब देशों पर लाद कर अपने यहाँ अपरिहार्य तौर पर होने वाले घरेलू क्रान्तिकारी संकट को कुछ समय के लिए टाल देते हैं। लेनिन का तर्क था कि 19वीं सदी के उत्तरार्ध का साम्राज्यवाद परिपक्व पूँजीवाद के आर्थिक तर्क से संचालित था। मुनाफ़े की घटती दर के चलते आर्थिक संकट पैदा हो गया था जिससे निकलने का एकमात्र उपाय क्षेत्रीय विस्तार था। नए बाज़ारों और कच्चे माल की खोज में विशालकाय पूँजीवादी समूह अपनी राष्ट्रीय सीमाओं के बाहर भी विस्तार करने के लिए मजबूर हुए। एक तरह से देखा जाए तो यह विश्लेषण पूरी तरह मार्क्स के अनुकूल है जिसने यूरोपीय उपनिवेशवाद को देशों के भीतर और यूरोप के बाकी हिस्सों में आन्तरिक विस्तार की प्रक्रिया से जोड़कर देखा था। मार्क्स और लेनिन दोनों का मानना था कि उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद उसी प्रक्रिया से निकले हैं जिससे यूरोप की परिधि के दूसरे इलाकों का आर्थिक विकास और आधुनिकीकरण हुआ था। लेकिन लेनिन के विश्लेषण में एक विशिष्ट तत्व शामिल था। चूंकि परिपक्व पूँजीवाद राष्ट्रीय एकाधिकारों पर आधारित था, बाज़ारों के लिए होने वाली होड़ ने राज्यों के बीच सामरिक होड़ का रूप ले लिया ताकि विशाल भूभागों पर एकछत्र आर्थिक लाभ के लिए अपना प्रभुत्व जमाया जा सके।

रोज़ा लक्जमबर्ग, कार्ल काउत्स्की, और निकोलोई बुखारिन समेत तमाम मार्क्सवादी सिद्धान्तकारों ने भी साम्राज्यवाद की पड़ताल की। काउत्स्की का मत ख़ासतौर पर महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसके विश्लेषण में कुछ ऐसी अवधारणाएँ उभरीं जिनकी समकालीन वैश्विक प्रणाली सिद्धान्त (वर्ल्ड सिस्ट्म थ्योरी) और उत्तर-औपनिवेशिक अध्ययनों में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। काउत्स्की ने इस मान्यता को चुनौती दी कि साम्राज्यवाद उन इलाकों का विकास करेगा जो उसके आर्थिक शोषण के दायरे में आते हैं। उसका कहना था कि साम्राज्यवाद एक कमोबेश स्थाई सम्बन्ध है जो दो तरह के देशों के बीच के क्रियाकलापों को एक ढाँचे में रखता है। (यंग 2001)। यह सही है कि शुरुआती दौर में साम्राज्यवाद ने पूँजीवादी मुल्कों के बीच सामरिक होड़ का स्वरूप लिया है, लेकिन वह अन्ततः पूँजीवादी हितों के बीच एक मिली-भगत का रूप ले लेगा ताकि अविकसित दुनिया के शोषण की एक स्थाई व्यवस्था बरकरार रखी जा सके। इस मत के सबसे प्रभावशाली समकालीन सिद्धान्तकार हैं इमैनुएल वालरस्टीन जो वैश्विक प्रणाली सिद्धान्त (World Systems Theory) के लिए जाने जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार वैश्विक प्रणाली केन्द्र और परिधि के राज्यों के बीच का एक कमोबेश स्थाई सम्बन्ध है। श्रम का यह अन्तरराष्ट्रीय विभाजन इस तरह संगठित है कि केन्द्र के देशों को फ़ायदा पहुँचे (वालरस्टीन 1974-89) और संसाधनों का परिधि से केन्द्र की तरफ़ स्थानान्तरण हो।

5. उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्त

वैश्विक प्रणाली सिद्धान्त के अनुसार परिधि के आर्थिक शोषण के लिए प्रत्यक्ष राजनीतिक या सामरिक प्रभुत्व ज़रूरी नहीं है। कुछ इसी तरह से, समकालीन साहित्यिक सिद्धान्तकारों ने निरूपण या चित्रण की कुछ ऐसी परिपाटियों की तरफ़ ध्यान आकर्षित किया है जो अधीनता के एक ऐसे तर्क को पुनरुत्पादित करती हैं जो भूतपूर्व उपनिवेशों के आज़ाद हो जाने के बाद भी बरकरार रहता है। उत्तर औपनिवेशिक अध्ययन का क्षेत्र एडवर्ड सईद की अग्रणी किताब *ओरिएंटलिज़्म* से ख़ासा प्रभावित हुआ था। *ओरिएंटलिज़्म* में सईद ने मध्य पूर्व के बारे में ज्ञान उत्पादन पर विमर्श विश्लेषण (discourse analysis) की मिशेल फ़ूको की तकनीक को लागू किया। प्राच्यवाद (Orientalism) शब्द अवधारणाओं, मान्यताओं, और विमर्शात्मक परिपाटियों के एक संगठित समूह का वर्णन करता है जिनका इस्तेमाल ग़ैर-यूरोपीय लोगों के बारे में ज्ञान का उत्पादन, उसकी व्याख्या और मूल्यांकन करने के लिए किया गया। सईद के विश्लेषण ने विद्वानों के लिए यह सम्भव बनाया कि वे साहित्यिक और ऐतिहासिक पाठों (texts) का विखण्डन यह समझने के लिए कर सकें कि ये पाठ किस तरह साम्राज्यवादी परियोजना को प्रतिबिम्बित और सुदृढ़ करते थे। इससे पहले के अध्ययनों से अलग जो उपनिवेशवाद के आर्थिक या राजनीतिक कारणों पर ध्यान केन्द्रित करते थे, सईद ने ज्ञान और सत्ता के बीच के सम्बन्ध की तरफ़ ध्यान आकर्षित किया। साम्राज्यवाद के सांस्कृतिक और ज्ञानमीमांसात्मक काम को सामने रखकर सईद मूल्यों से मुक्त ज्ञान की वैचारिक मान्यता को चुनौती दे सके और यह दिखा सके कि 'पूर्व (Orient) को जानना' उस पर प्रभुत्व जमाने की परियोजना का हिस्सा है। *ओरिएंटलिज़्म* को पश्चिमी ज्ञानमीमांसा की उत्तरसंरचनावादी (post-structuralist) आलोचना के भौगोलिक और ऐतिहासिक दायरे को विस्तृत करने के प्रयास की तरह देखा जा सकता है।

सईद प्राच्यवाद शब्द का इस्तेमाल कई अलग-अलग तरीकों से करते हैं। पहला, प्राच्यवाद मध्य पूर्व और एशिया के बारे में अकादमिक अध्ययन का एक विशिष्ट क्षेत्र है। हालांकि यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसकी परिकल्पना सईद ख़ासे विस्तृत तरीके से करते हैं जिसमें इतिहास, समाजशास्त्र, साहित्य, मानव शास्त्र और ख़ासतौर से भाषा व लेखन-अध्ययन भी शामिल हो जाते हैं। वे प्राच्यवाद की पहचान एक ऐसी परिपाटी के रूप में करते हैं जो यूरोप को एक ख़ास तरीके से उसके अन्य (Other) के एक स्थिर चित्रण के ज़रिए परिभाषित करने में मदद करता है और यूरोप क्या नहीं है उसे उस परिभाषा के अन्दर स्थापित करता है। प्राच्यवाद यूरोप की विशेषता बताने का एक ऐसा तरीका है जिसमें यूरोप की छवि दुनिया से अलग प्रस्तुत की जाती है जो विरोधाभासों (तार्किक/अतार्किक, मन/शरीर, व्यवस्था/अराजकता) की एक श्रृंखला पर आधारित है जो यूरोपीय चिन्ताओं को सम्भालता है और उन्हें दूर करता है। अन्त में, सईद ने इस बात पर ज़ोर दिया कि प्राच्यवाद पूर्व से सम्बन्धित ज्ञान को संगठित और वर्गीकृत कर अपनी हुकूमत चलाने का एक तरीका भी है। यह विमर्शात्मक नज़रिया ज्ञान को महज़ आर्थिक या राजनीतिक हितों का प्रतिबिम्ब मानने वाले भौतिकवादी नज़रिए से और विद्वता को उदासीन व निष्पक्ष मानने वाले आदर्शवादी नज़रिए से भी अलग है। फ़ूको का

अनुसरण करते हुए, सईद विमर्श को ज्ञान के एक ऐसे स्वरूप की तरह देखते हैं जिसका इस्तेमाल सत्ता के उपकरण की तरह नहीं होता है बल्कि जो ख़ुद ही सत्ता का एक स्वरूप है।

उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्त में दूसरा लगभग-सर्वस्वीकृत स्थान गायत्री स्पीवाक की रचना 'कैन द सबआल्टर्न स्पीक?' का है। स्पीवाक चित्रण की समस्यामूलकता के सईद के सवाल पर ही काम करती हैं मगर वे उसका विस्तार कर उसे समकालीन अकादमिक दुनिया पर भी लागू करती हैं। स्पीवाक सबआल्टर्न (निम्न वर्ग) के पारदर्शी वक्तव्य के विचार पर सवाल खड़े करती हैं। जब हितैषी विद्वान यह चाहते हैं कि सबआल्टर्न 'अपने लिए ख़ुद ही बोले' तब उनकी उम्मीद यह होती है कि मध्यस्थों (विशेषज्ञ, जज, शाही प्रशासक, स्थानीय अभिजात्य) को हटा देने से अनुभव पर आधारित किसी प्रामाणिक सत्य को सामने आने का मौका मिलेगा। लेकिन ख़ुद अनुभव की रचना उसके चित्रण से ही होती है; और ऐसे में चित्रण की समस्या को नकार देने से वह ख़त्म नहीं हो जाती बल्कि इससे उसे पहचानना और कठिन ही हो जाता है। इस निबन्ध का मुख्य दावा यह है कि 'चित्रण फीका नहीं पड़ा है'। चूंकि सत्ता हर जगह है, ख़ुद भाषा में भी, इसलिए पारदर्शिता व प्रामाणिकता असम्भव हैं। इसका मतलब यह हुआ कि व्याख्या का अव्यवस्थित और विवादित काम ज़रूरी है।

स्पीवाक के काम की एक प्रमुख आलोचना यह है कि उनके लेखन की जटिलता के चलते विद्यार्थियों और एक्टिविस्ट लोगों के लिए उनकी रचना को समझ पाना मुश्किल हो जाता है। बेशक, अकादमिक दायरों में उनके काम को काफ़ी उद्धृत किया जाता है, लेकिन आलोचकों का तर्क है कि उनके विश्लेषण के अतिशय सैद्धान्तिक व अमूर्त स्वरूप के चलते समकालीन राजनीतिक संघर्षों के लिए वह अप्रासंगिक हो जाता है। एजाज़ अहमद का तर्क है कि मार्क्सवादी परम्परा के दायरे में रहकर काम करने के स्पीवाक के दावे के बावजूद उनके निबन्धों में मार्क्सवाद की केन्द्रीय विशेषताएँ- भौतिकवाद, तार्किकता, और प्रगति के प्रति तिरस्कार झलकता है (अहमद, 1997)। अहमद के अनुसार, उत्पादन की एक प्रणाली के रूप में पूँजीवाद की संस्थागत संरचनाओं और उसके भौतिक प्रभावों की बजाय स्पीवाक पूँजीवाद के आख्यानों को लेकर ज़्यादा चिन्तित हैं। सबआल्टर्न किरदारों को सरलीकृत रूप देने वाले आन्दोलनों की स्पीवाक की तीखी आलोचना को मार्क्सवादी राजनीति की बुनियादी मान्यताओं पर हमले की तरह भी देखा जा सकता है जो सर्वहारा को एक ऐसे विशिष्ट समूह के रूप में महत्त्व देती है जिनके पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा निर्मित साझे और वास्तविक हित हैं। यह बहस उत्तर आधुनिक अध्ययन के क्षेत्र में चलने वाले एक तनाव को दर्शाती है। हालांकि कुछ विचारक मार्क्सवाद और उत्तर-संरचनावाद दोनों से प्रेरणा लेते हैं लेकिन इन दोनों सिद्धान्तों के रुझान, पद्धतियाँ और मान्यताएँ अलग-अलग हैं। मानविकी के दायरे में उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्त में उत्तरसंरचनावादी विचार का प्रभाव दिखता है जबकि विउपनिवेशीकरण के सिद्धान्तकार सामाजिक इतिहास, अर्थशास्त्र, और राजनीतिक संस्थाओं पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। जहाँ उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्त संकरता (hybridity), प्रवासी जन, प्रतिनिधित्व, आख्यान,

और ज्ञान/सत्ता के मुद्दों से जुड़ा हुआ है, वहीं विउपनिवेशीकरण के सिद्धान्त क्रान्ति , आर्थिक ग़ैरबराबरी , हिंसा, और राजनीतिक पहचान के मसलों से सरोकार रखते हैं (कोह्न 2010)।

कुछ विद्वानों ने उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्त की अवधारणा की उपयोगिता पर सवाल उठाने करने शुरू कर दिए हैं। चार-चरणों के स्कॉटिश सिद्धान्त की ही तरह, जिसके साथ ऐसा लग सकता है कि उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्त की उतनी समानता नहीं है, ख़ुद उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्त भी इतिहास की प्रगतिवादी समझ पर आधारित लगता है (मेक्कलिंटॉक 1992)। सम्भवतः इसका ऐसा अभिप्राय नहीं है लेकिन इससे लगता है कि संकरता, अन्यता, विशिष्टता, और बहुलता जैसी केन्द्रीय अवधारणाएँ एक किस्म की पद्धतिगत कट्टरता या विकासवादी तर्क की तरफ़ ले जा सकती हैं। इसके अलावा, खोजबीन के इस दायरे के लिए 'औपनिवेशिक'शब्द का उपयोग भी समस्यामूलक है, जहाँ तक वह प्रभुत्व के बिलकुल ही अलग-अलग तरीकों का अनुभव करने वाले इलाकों के बीच समानताएँ इंगित करता है जो कि ऐतिहासिक रूप से उचित नहीं लगता है। इस तरह, उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्त के पीछे का आलोचनात्मक आवेग ख़ुद अपने ही खिलाफ़ हो गया है जो हमारा ध्यान इस तरफ़ आकर्षित करता है कि किस तरह ख़ुद इस सिद्धान्त पर उपनिवेशवाद के सदमे के परे जाने की काल्पनिक इच्छा की छाप मौजूद है (गाँधी 1998)।

सन्दर्भ

अहमद, एजाज़, 1994, *इन थ्योरी: क्लासेज़, नेशंस, लिट्रेचर्स*, लंडन: वर्सो।

बर्क, एडमंड, 2000, *ऑन एम्पायर, लिबर्टी एंड रिफ़ॉर्म: स्पीचेज़ एंड लेटर्ज़*, डेविड ब्रॉमविच (संपा.), न्यू हेवेन: येल यूनिवर्सिटी प्रेस।

गाँधी, लीला, 1988, *पोस्टकोलोनियल थ्योरी: ए क्रिटिकल इंट्रोडक्शन*, न्यू यॉर्क: कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस।

गुहा, रंजित और स्पीवाक, गायत्री, 1988, *सेलेक्टेड सबआल्टर्न स्टडीज़*, न्यू यॉर्क एंड ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

कोह्न, मार्गरिट, 2010, "पोस्ट-कोलोनियल थ्योरी", डंकन बेल (संपा.), *एथिक्स एंड वर्ल्ड पॉलिटिक्स* में संकलित, ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

कोह्न, मार्गरिट और ओनील', डेनियल, 2006, "ए टेल ऑफ़ टू इंडियाज़: बर्क एंड मिल ऑन रेसिज़्म एंड स्लेवरी इन द वेस्ट इंडीज़", *पोलिटिकल थ्योरी*, 34: 192-228।

मार्क्स, कार्ल, 1972, *ऑन कोलोनियलिज़्म: आर्टिकल्स फ़्रॉम द न्यू यॉर्क ट्रिब्यून एंड अदर राइटिंग्स*, न्यू यॉर्क: इंटरनेशनल पब्लिशर्स।

मेक्क्लिंटॉक, एनी, 1992, "द एंजेल ऑफ़ प्रोग्रेस: पिटफ़ॉल्ज़ फ़्रॉम द टर्म पोस्ट'-कोलोनियलिज़्म", *सोशल टेक्स्ट*, 31/32: 84-98।

मेहता, उदय, 1999, *लिबरलिज़्म एंड एम्पायर: ए स्टडी इन नाइनटीन्थ सेन्चुरी ब्रिटिश लिबरल थॉट*, शिकागो: यूनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस।

मिल, जॉन स्टुअर्ट, 1861, *कंसीडरेशंज़ ऑन रीप्रेज़ेन्टेटिव गवर्नमेन्ट, कलेक्टेड वर्क्स ऑफ़ जॉन स्टुअर्ट मिल* (खण्ड 19) में संकलित, जॉन रॉबिन्सन (संपा.), टोरोंटो: यूनिवर्सिटी ऑफ़ टोरोंटो प्रेस, 1963, पृ. 371-577।

मुत्तु, शंकर, 2003, *एनलाइटेनमेंट अगेन्स्ट एम्पायर*, प्रिंस्टन, एनजे: प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस।

पेजेन, एन्थनी, 1990, *स्पैनिश इंपीरियलिज़्म एंड पोलिटिकल इमैजिनेशन*, न्यू हैवेन, सीटी: येल यूनिवर्सिटी प्रेस।

पिट्स, जेनिफर, 2005, *अ टर्न टू एम्पायर: द राइज़ ऑफ़ इम्पीरियल लिबरलिज़्म इन ब्रिटेन एंड फ़्रांस*, प्रिंस्टन एंड ऑक्सफोर्ड: प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस।

टॉक्वील, एलेक्सिज़, 2001, *राइटिंग्स ऑन एम्पायर एंड स्लेवरी*, जेनिफर पिट्स (संपा. व अनु.), बाल्टीमोर, एमडी: जॉन हॉप्किन्स यूनिवर्सिटी प्रेस।

सईद, एडवर्ड, 1979, *ओरिएंटलिज़्म*, न्यू यॉर्क: विन्टेज।

स्पीवाक, गायत्री, 1988, "कैन द सबाल्टर्न स्पीक?", सी. नेल्सन व एल ग्रॉसबर्ग (संपा.), *मार्क्सिज़्म एंड द इंटरप्रिटेशन ऑफ़ कल्चर*" में संकलित, अर्बाना: यूनिवर्सिटी ऑफ़ इलिनॉय प्रेस, पृ. 271-313।

विक्टोरिया, फ़्रांसिस दे, 1917, *ऑन द इंडियंस लेटली डिस्कवर्ड*, ई नाइस (संपा.), वाशिंगटन: कार्नेजी इंस्टिट्यूट।

वालर्स्टीन, इमैनुएल, 1974-1989, *द मॉडर्न वर्ल्ड सिस्टम*, तीन खण्ड, न्यू यॉर्क: एकेडमिक प्रेस।

विलियम्स रॉबर्ट्स, 1990, *द अमेरिकन इंडियन इन वेस्टर्न लीगल थॉट*, न्यू यॉर्क व ऑक्सफ़ोर्ड: ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

यंग, रॉबर्ट्स, 2001, *पोस्टकोलोनियलिज़्म: एन हिस्टॉरिकल इंट्रोडक्शन*, ऑक्सफ़ोर्ड: ब्लैकवेल।

अन्य इंटरनेट स्रोत

लेनिन, वी आई, 1999 (1917), इंपीरियलिज़्म: द हाइएस्ट स्टेज ऑफ़ कैपिटलिज़्म, मार्क्सिस्ट इंटरनेट आर्काइव (https://www.marxists.org/archive/lenin/works/1916/imp-hsc/)